

उपमितिभव प्रपञ्च कथा :

कितना सार्थक है सिद्धर्षि का रचना उपक्रम ?

□ साध्वी दिव्यप्रभा एम. ए. पी-एच. डी.
(सुशिष्या महासती श्री कुसुमवती जी म. सा.)

मानव-मन के विचार जब तक अव्यक्त रहते हैं, तब तक वे इन्द्रियग्राह्य नहीं बन पाते। किन्तु ये ही उद्गार जब उपमा/रूपक/प्रतीक—आदि को माध्यम बनाकर व्यक्त हो जाते हैं, तब, वे, न सिर्फ इन्द्रियग्राह्य ही बन जाते हैं, वरन्, उनमें एक ऐसी सामर्थ्य समाहित हो जाती है, जो ग्रहीता पर अपनी अमिट छाप बना देते हैं। काव्य/ग्रन्थ प्रणयन के क्षेत्र में प्रतीक-साहित्य की सर्जना-शैली के मूल में इसी प्रकार का कोई मुख्य-कारण रहा होगा। यद्यपि, इस शैली में लिखे गये संस्कृत-साहित्य का परिशीलन करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि उपमेय-उपमान-शैली को माध्यम बनाने की परम्परा पर्याप्त-प्राचीन है। और, इस सृजन-शिल्प के बीज-बिन्दु बृहदारण्यकोपनिषद् से सम्बद्ध 'उद्गीथ ब्राह्मण'^१ में 'छान्दोग्योपनिषद्'^२ में भी उपलब्ध होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में पाप-पुण्य-वृत्तियों का देवी-आसुरी सम्पत्तियों के रूप में उल्लेख है^३। 'जातक निदान कथा' (बौद्ध ग्रन्थ) के 'अविदूरे-निदान' और 'सन्तिके निदान' में भी इसी शिल्प-शैली का दर्शन होता है। जैन साहित्य में 'उत्तराध्ययन'^४ 'सूत्रकृतांग' और 'समराइच्च कहा' के कुछ आख्यानो में यही शिल्प विद्यमान है। किन्तु, इस

शैली में किसी विस्तृत या बृहद् आकार वाले ग्रन्थ रचना करने का साहस, सिद्धर्षि से पहले का कोई कवि/साहित्यकार नहीं कर पाया। श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में पुरञ्जन का आख्यान है, विषयासक्ति के कारण पुरञ्जन को जो भव-भ्रमण करना पड़ा, उसी का विस्तृत विवेचन इसमें है। पुरञ्जन के इस भव-भ्रमण-विवेचन का कलेवर चार अध्यायों के १८७ श्लोकों में वर्णित है। बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, वृत्ति, सुषुप्ति, स्वप्न, शरीर आदि के रोचक-रूपक इस वर्णन में दिये गये हैं। यह वृत्तान्त, यद्यपि पर्याप्त-विस्तार वाला नहीं है, तथापि, जो रूपक, जिस रूप में प्रयुक्त हुए हैं, वे सार्थक, सटीक, और मनोहारी अवश्य हैं। फिर भी, इस वर्णन को उस-श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, जिस श्रेणी में सिद्धर्षि की 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' को मान्यता प्राप्त है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डॉ० हर्मन जैकोबी ने इस महाकथा की प्रस्तावना में लिखा है—“I did not find something still more important : the great literacy of the U. Katha and the fact that is the first allegorical work in Indian Literature.” इस कथन को लक्ष्य करके, यह कहा जाने में कतई संकोच नहीं होता कि प्रतीक शैली

१ उद्गीथ ब्राह्मण १/३

२ श्रीमद् भगवद्गीता १६

३ छान्दोग्योपनिषद् १/२

४ उत्तराध्ययन—अध्ययन ६, १०, २७

की अनुपम काव्य-परम्परा¹ का सूत्रपात करने का श्रेय, सिद्धार्थि की 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' को जाता है। पश्चात्, 'प्रबोधचिन्तामणि' (जयशेखर सूरि) से लेकर अब तक के समस्त रूपक-ग्रन्थों को सिद्धार्थि की इसी कृति की परम्परा के ग्रन्थों में गिना जा सकता है।

जैन वाङ्मय का कलेवर पर्याप्त-विस्तार वाला है। इसकी सर्जना में 'संस्कृत' और 'प्राकृत' दोनों ही भाषाओं का व्यापक-प्रयोग मौलिक रूप में किया गया है। महावीर के समय तक, प्राकृत-भाषा जनसाधारण के बोलचाल और सामान्य-व्यवहार में भी पर्याप्त-प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थी। सम्भवतः इसीलिए, उन्होंने अपने द्वारा अनुभूत सत्य/तत्त्व का प्रतिपादन प्राकृत भाषा में किया था। उनके प्रधान-शिष्यों ने भी उक्त तत्त्व-ज्ञान को प्राकृत-भाषा में ही संकलित करके जनसाधारण की भावनाओं को महत्त्व प्रदान किया। महावीर और उनके शिष्यों के इस प्रयास का परिणाम यह हुआ कि लगभग ५०० वर्षों तक निरन्तर जैन धर्म और साहित्य के क्षेत्र में प्राकृत-भाषा का व्यवहार होता रहा।

महावीर के इस भाषा-प्रस्थान में, संस्कृत के प्रति किसी प्रकार का कोई विद्वेष भाव नहीं था। बल्कि, तत्त्वज्ञान की प्रभावशालिता और उपयोगिता, जनसाधारण की समझ में आने वाली भाषा में ही निहित है, यह विचार ही प्राकृत को प्राथमिकता देने का मुख्य निमित्त बना। वस्तुतः यह वह युग था, जिसमें संस्कृत और प्राकृत की संघर्ष-मयी प्रतिद्वन्द्विता, अपने उत्कर्ष पर पहुँच रही थी।

विद्वानों, साहित्यकारों में प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा का प्रश्न, इन दो में से एक भाषा के चयन, निश्चय पर निर्भर करने लगा था। भाषा के चयन का लक्ष्य 'पाण्डित्य-प्रदर्शन' और 'लोकमानस के अनुरूप ग्रन्थों का प्रणयन' बन गया था। सिद्धार्थि भी इस युगीन स्थिति से पूर्णतः परिचित थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके ग्रंथरचना काल में संस्कृत और प्राकृत, दोनों ही भाषाओं को प्रधानता प्राप्त थी। प्राकृत-भाषा यद्यपि जनसाधारण के लिये बोधगम्य अवश्य थी, पर, यह विद्वानों को अच्छी नहीं लगती थी। पण्डित वर्ग में संस्कृतभाषा को ही विशेष समादर प्राप्त था। वे प्राकृत-भाषा में बोलचाल तक करना पसन्द नहीं करते थे।²

सूर्य का 'प्रकाश' और 'प्रताप' जिस तरह एक साथ संयुक्त रहते हैं, उसी तरह 'समाज' और 'संस्कृति' भी साथ-साथ संपृक्त रहते हैं। समाज मानव-समुदाय का बाह्य-परिवेष है तो संस्कृति उसका अन्तःस्वरूप है। जिस समाज का अन्तः और बाह्य-परिवेष, भौतिकता पर आधारित होता है, उसका साहित्य, आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत नहीं हो सकता। किन्तु जिस समाज का अन्तःस्वरूप आध्यात्मिक हो, उसका बाह्य स्वरूप यदि भौतिकता में लिप्त हो जाये, तो भी उस समाज का साहित्य, आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए संस्कृत साहित्य का लक्ष्य जनसाधारण तक आध्यात्मिकता का सन्देश पहुँचाना और उनमें नव-जागरण का भाव भरते रहना, हमेशा रहा है।

सुख-दुःख, राग-विराग, मित्रता-शत्रुता के

१ सिद्धि व्याख्यातुराख्यातुं महिमानं हि तस्य कः ।

समस्त्युपमितिर्नाम यस्यानुपमिति कथा ॥

२ संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः ।

तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्धहृदिस्थिता ॥

बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला ।

तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते ।

—प्रद्युम्नसूरि रचित 'समरादित्य संक्षेप'

—उपमितिभवप्रपञ्चकथा

पारस्परिक संघर्ष से भिन्न-भिन्न प्रकार की जो परिस्थितियाँ बनती हैं, उन्हीं की संज्ञा है—‘जीवन’। जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति न तो दुःख को सर्वथा त्याग देने पर सम्भव है, न ही मुख की सर्वतोमुखी स्वीकृति से उसकी तार्किक व्याख्या की जा सकती है। इसलिए संस्कृत का कोई कवि, साहित्यकार और दार्शनिक किसी एक पक्ष का चित्रण नहीं करता। क्योंकि वह जानता है—‘यह संसार द्वन्द्वों, संघर्षों का ही एक विशाल क्रीड़ांगन है।’ किन्तु ‘निराशा’ में से ‘आशा’ का, ‘विपत्ति’ में से ‘संपत्ति’ का और ‘दुःख’ में से ‘सुख’ का स्रोत अवश्य फूटता है। इसीलिए उक्त मान्यता, भारतीय चिन्तन की आधारभूमि बनकर रह गई। संस्कृत साहित्य में यही दार्शनिकता, अनुसरणीय और अनुकरणीय बनकर चरितार्थ होती आ रही है।

सिद्धर्षि इन तथ्यों से भी भलीभाँति परिचित थे। यद्यपि, उनके पूर्व उल्लिखित विचारों से यह प्रतीत होता है कि वे अपनी, इस विशाल कथाकृति को प्राकृत भाषा में लिखना तो चाहते थे, किन्तु इससे उन्हें विद्वानों में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो पायेगी, यह भय उन्हें था। इसलिए उन्होंने सरल-संस्कृत में कथाकृति की रचना का एक ऐसा मध्यम मार्ग चुना, जिससे तत्कालीन जनसाधारण को भी इस कथा को समझने में कोई कठिनाई न हो, और उन्हें स्वयं पण्डित वर्ग के उपेक्षा-भाव का शिकार न होना पड़े। अन्ततः सोलह हजार श्लोक परिमाण कलेवर वाले रूपकमय इस पूरे कथा ग्रन्थ में एक ही नायक के विभिन्न जन्म-जन्मान्तरों का भारतीय धर्म-दर्शन में वर्णित प्रमुख जीव-योनियों का स्वरूप विवेचन ‘संस्कृत’ भाषा के माध्यम से करते हुए, यह भी निर्देशित किया है कि किन कर्मों के कारण किस योनि में जीवात्मा को भटकना पड़ता है, और जन्म-जन्मान्तर रूप भव-भ्रमण से उबारने में किस

तरह की मनोवृत्तियाँ, भावनाएं उसे सम्बल प्रदान करती हैं।

इस विशाल कथा-ग्रन्थ को सिद्धर्षि ने आठ प्रस्तावों, अध्यायों में विभाजित किया है। पूरी की पूरी कथा की प्रतीक-योजना दुहरे अभिप्रायों को एक साथ संयोजित करते हुए लिखी गई है। जगत के सामान्य व्यवहार में दृश्यमान स्थानों, पात्रों और घटनाक्रमों से युक्त कथानक की ही भाँति इस कथा में वर्णित स्थान-पात्र-घटनाक्रमों में कथाकृति का एक आशय स्पष्ट हो जाता है। किन्तु दूसरा आशय, अदृश्य/भावात्मक जगत के दार्शनिक/आध्यात्मिक विचारों/अनुभव-व्यापार में से उद्भूत होता हुआ, कथाक्रम को अप्रमरित करता चलता है। वस्तुतः यह दूसरा आशय ही ‘उपमिति भवप्रपञ्चकथा’ का, और इसके लेखक का प्रथम/प्रमुख लक्ष्य है। इस आधार पर इस कथाकृति के दो रूप हो जाते हैं, जिन्हें ‘बाह्यकथा शरीर’ और ‘अन्तरंग कथा शरीर’ संज्ञायें दी जा सकती हैं। इन दोनों शरीरों के मध्य ‘प्राणों’ की तरह, एक ही कथा अनुस्यूत है। कथा के दोनों स्वरूपों को समझाने के लिए, प्रथम-प्रस्ताव के रूप में समायोजित ‘पीठबन्ध’ में सिद्धर्षि ने अपने स्वयं के जीवन-चरित को एक छोटी-सी कथा के रूप में उन्हीं दुहरे आशयों के साथ संजोया है, जो कथा के पाठकों को दूसरे प्रस्ताव से प्रारम्भ होने वाली मूल कथा की रहस्यात्मकता को समझने का पूर्व-अभ्यास कराने के लिए, उपयुक्त मानी जा सकती है। भवप्रपञ्च क्या है? और, भवप्रपञ्च कथा कहने/लिखने का उद्देश्य क्या है? यह स्पष्ट करने के लिए भी पीठबन्ध की कथा-संयोजन-योजना को, सिद्धर्षि का रचना-कौशल माना जा सकता है।

‘उपमितिभवप्रपञ्च कथा’ के विशाल कलेवर में गुम्फित कथा का मूलस्वरूप निम्नलिखित संक्षेप

१ उपाये सति कर्तव्यं सर्वेषां चित्तरंजनम् ।
अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेयं करिष्यते ॥

—उपमितिभवप्रपञ्चकथा

५५६ कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ : परिशिष्ट

साध्वीरत्न कुसुमवती अभिनन्दन ग्रन्थ

मार से अनुमानित किया जा सकता है। मेरुपर्वत से पूर्व में, महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत 'सुकच्छ-विजय' नामक एक देश है। इसका राजा था—'अनुसुन्दर' चक्रवर्ती। इसकी राजधानी थी—'क्षेमपुर'। वृद्धावस्था के अन्तिम समय, वह अपना देश देखने की इच्छा से भ्रमण पर निकलता है। और किसी दिन 'शंखपुर' नगर के बाहर बने 'चित्तरम' नामक उद्यान के पास से गुजरता है।

इस समय, चित्तरम उद्यान में बने 'मनोनन्दन' नामक चैत्य भवन में समन्तभद्राचार्य ठहरे हुए थे। प्रवर्तिनी—साध्वी 'महाभद्रा' उनके सामने बैठी थीं। 'सुललिता' नाम की राजकुमारी और 'पुण्डरीक' नाम का राजकुमार भी, इस सन्त-सभा में बैठे थे। अचानक ही रथों की गड़गड़ाहट और सेना का कोलाहल सुनकर सभी का ध्यान शोर की ओर आकृष्ट हो जाता है। उत्सुकता और जिज्ञासावश राजकुमारी, महाभद्रा से पूछती है—'भगवती! यह कैसा कोलाहल है?' महाभद्रा ने आचार्यश्री की ओर देखकर कहा—'मुझे नहीं मालूम।' किन्तु, आचार्यश्री ने इस अवसर को राजकुमार और राजकुमारी को प्रबोध देने के लिए उपयुक्त समझते हुए, महाभद्रा से कहा—'अरे महाभद्रे! तुम्हें नहीं मालूम है कि हम-सब इस समय 'मनुजगति' नामक प्रदेश के महाविदेह बाजार में बैठे हैं। आज एक चोर, चोरी के माल सहित पकड़ लिया गया है। जिसे 'कर्म-परिणाम' महाराज ने अपनी प्रधान महारानी 'कालपरिणति' से परामर्श करके उसे मृत्युदण्ड की सजा सुनाई है। 'दुष्टाशय' आदि दण्डपाशिक उसे पीटते हुए वध-स्थल की ओर ले जा रहे हैं। आचार्यश्री की बात सुनकर, सुललिता आश्चर्य में पड़ जाती है। और पुनः महाभद्रा से पूछती है—'भगवती! हम लोग तो शंखपुर के 'चित्तरम' उद्यान में बैठे हैं। यह 'मनुजगति' नगर

का 'महाविदेह-बाजार' कैसे हो भया? यहाँ के महाराज 'श्रोगर्भ' हैं न कि कर्मपरिणाम।' आचार्यश्री क्या कह रहे हैं यह सब?' आचार्यश्री ने उत्तर दिया—'धर्मशीले सुललिते! तुम 'अगृहीत संकेता' हो। मेरी बात का अर्थ तुम नहीं समझ पायीं।' सुललिता सोचती है—आचार्यश्री ने तो मेरा नाम भी बदल दिया। तभी, आचार्यश्री के कथन का आशय समझकर महाभद्रा निवेदन करती है—'भगवन्। यह चोर, मृत्युदण्ड से मुक्त हो सकता है क्या?' आचार्यश्री ने उत्तर दिया—'जब उसे तेरे दर्शन होंगे, और वह हमारे समक्ष उपस्थित होगा, उसकी मुक्ति हो जायेगी।' महाभद्रा ने पूछा—'तो क्या मैं उसके सम्मुख जाऊँ?' आचार्यश्री ने कहा—'जाओ। इसमें दुविधा कहाँ है?'

महाभद्रा उद्यान से निकलकर बाहर राजपथ पर आई और अनुसुन्दर चक्रवर्ती के निकट आने पर उससे बोली—'भद्र! सदागम की शरण स्वीकार करो।'

साध्वी के दर्शन से अनुसुन्दर को 'स्वगोचर' (जाति/पूर्वजन्म-स्मरण) ज्ञान हो जाता है।¹ उसने आचार्यश्री द्वारा कही गई बात उनसे सुनी, और उनके साथ, आचार्यश्री के समक्ष आकर उपस्थित हो जाता है। वह आचार्यश्री को देखकर, सुख के अतिरेक से भर उठता है।² और अति-प्रसन्नता में मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ता है। आचार्यश्री द्वारा प्रबोध देने पर वह सचेत होता है। राजकुमारी सुललिता, उससे चोरी के विषय में पूछती है। आचार्यश्री भी उसे अपना सारा वृत्तान्त सुनाने का आदेश देते हैं, तब अनुसुन्दर ने साध्वी के दर्शन से उत्पन्न पूर्वजन्म-स्मरण का सहारा लेकर, अपनी भवप्रपञ्चकथा, तमाम उपमाओं के साथ सुनानी आरम्भ कर दी।³

अनुसुन्दर की कथा सुनते-सुनते राजकुमार पुण्डरीक प्रतिबुद्ध हो जाता है। किन्तु, राजकुमारी

१ उपमितिभव प्रपञ्च कथा—पीठबन्ध-श्लोक ६३

२ उपमितिभव प्रपञ्च कथा पृष्ठ-७३६

३ वही—पीठबन्ध, श्लोक ६६

सुललिता बार-बार कथा सुनकर भी प्रतिबुद्ध न हुई, तब विशेष प्रेरणा के द्वारा उसे बड़ी मुश्किल से-बोध ही पाता है।¹ प्रतिबुद्ध हो जाने से दोनों को आत्मबोध हो जाता है। और वे दोनों संसारा-वस्था को छोड़कर आर्हती-दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।² कालान्तर में, उत्कृष्ट तपश्चरण के प्रभाव से मोक्ष प्राप्त करते हैं।³

इस सार-संक्षेप में आचार्यश्री महाभद्रा और सुललिता के कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि इस महाकथा में रहस्यात्मकता का गुम्फन कितना सहज और दुर्बोध है। इसी तरह के रहस्यात्मक प्रतीक-कथाचित्रों की भरमार उपमितिभवप्रपञ्चकथा में है। जो आठों प्रस्तावों में समाविष्ट, अनेकों अलग अलग कथाओं को पढ़ने पर और अधिक गहरा बन जाता है। हिंसा, असत्य, चौर्य/अस्तेय, मैथुन और अपरिग्रह के साथ क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मोह का आवेग जुड़ जाने पर स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और चक्षु इन्द्रियों की अधीनता स्वीकार कर लेने से जो प्रतिकूल परिणाम जीवात्मा को भोगने पड़ते हैं, प्रायः उन समस्त परिणामों से जुड़ी अनेकों कथाएँ, इस महाकथा में अन्तर्भूत हैं। इन कथाओं का घटनाक्रम भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न पारिवारिक-परिवेशों में, भिन्न-भिन्न पात्रों के द्वारा घटित/वर्णित किया है सिद्धिषि ने। इस विभिन्नता को देखकर, सामान्य पाठक को यह निश्चय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि इन अनेकों कथा-नायकों में से मुख्यकथा का नायक कौन हो सकता है ?

वस्तुतः स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के माध्यम से संसार को, जीवात्मा न सिर्फ देखता है, बल्कि उनसे अपना रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर उसकी पुनः-पुनः आवृत्ति करता रहता है। फलतः, सांसारिक पदार्थों के विकारों की छाप, उस पर

इतनी प्रबल हो जाती है कि वह जन्म-जन्मान्तरों तक उनसे अपना सम्बन्ध तोड़ नहीं पाता। इससे जीवात्माओं को जो यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, वे अकल्पनीय ही होती हैं। इसी तरह की जीवात्माओं के जन्म-जन्मान्तरों की कथाएँ, हर प्रस्ताव में संयोजित हैं। जिनके साथ, छाया की तरह, कुछ ऐसे जीवन-चरित भी संयोजित हुए हैं, जिन्हें न तो इन्द्रियों की शक्ति अपने अधीन बना पायी है, न ही हिंसा, चोरी-आदि दुराचारों के वशंवद वे बन सके हैं। क्रोध, मान, माया जैसे प्रबल मान-वीर्य-विकारों का प्रभुत्व भी उन्हें पराजित नहीं कर पाया। स्पष्ट है कि सिद्धिषि ने इन कथाओं में 'अशुभ' और 'शुभ' परिणामी जीवों के कथानक, साथ-साथ संजोये हैं इस महाकथा में। द्विविध चरितों की यह संयोजना, सिद्धिषि की कल्पना से प्रसूत नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, इस सबके संयोजन में उनका गहन दार्शनिक अभिज्ञान, चिन्तन और अनुभव, आधारभूत कारक रहा है। जिसे उनके रचना-कौशल में देखकर, यह माना जा सकता है कि सिद्धिषि ने उन शाश्वत स्थितियों की विवेचना की है, जो जीवात्मा के अस्तित्व के साथ-साथ ही समुदभूत होती हैं। इसी द्विविधता को, हम इस महाकथा के प्रारम्भ में उन दो ध्रुव-बिन्दुओं के रूप में देख सकते हैं, जिनसे महाकथा का सूत्रपात होता है। इन बिन्दुओं की ओर, सिद्धिषि ने 'कर्मपरिणाम' के अधीनस्थ दो सेना-पतियों—'पुण्योदय' और 'पापोदय'—के कार्यक्षेत्रों का निर्धारण करके, इन दोनों की प्रवृत्तियों का परिचय दे करके, पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहा है। इन दोनों की क्रियापद्धति और अधिकारों में मात्र यह अन्तर है कि 'पुण्योदय' के कार्यक्षेत्र में जो जीवात्माएँ आ जाती हैं, उन्हें वह उन्नति की ओर अग्रसर करने के लिए प्रयासरत रहता है; जबकि, 'पापोदय' अपने अधिकार क्षेत्र

१ वही—पीठबन्ध-श्लोक १७-१८

२ वही—श्लोक ६५८-६६१

२ वही—पृष्ठ ७५२-५३

में आई जीवात्माओं को पतित से पतिततम अवस्थाओं में पहुँचाने की योजनाएँ बनाने में लगा रहता है।

आशय यह है कि उपमितिभव प्रपञ्चकथा की कथाओं में द्वैविध्य का समावेश, इस तरह हुआ है, कि कर्मबन्ध का 'आस्रव' जिन क्रिया कलापों से होता है, उनका, और 'संवर' की प्रक्रिया में सहयोगी क्रियाकलापों का निर्देश, पाठक को साथ-साथ उपलब्ध होता जाये। जिससे उन्हें यह अनुभव करने में कठिनाई न हो कि 'असद्-प्रवृत्ति' से जीवात्मा, कर्म-बन्धन में किस तरह जकड़ता है, और कर्म-बन्ध की इस स्थिति को, किस तरह की प्रवृत्तियों से बचाया जा सकता है। यह स्पष्ट ज्ञात हो जाने पर ही जीवात्मा यह समझ पाता है कि भवप्रपञ्च के विस्तार का यह मुख्य कारण 'कर्मबन्ध' है। 'कषाय' और 'इन्द्रियों की विषय प्रवृत्ति' ऐसे दुर्विकार हैं, जो भवप्रपञ्च रूपी वृक्ष को हरा-भरा बनाये रखने में, मुख्य-जड़ों को भूमिका निभाते हैं। इस भवप्रपञ्च वृक्ष को उखाड़-फेंकने की शक्ति, पाठकों में आये, यही आशय, इस कथा का मुख्य-लक्ष्य रहा है।

किन्तु, इस द्विविधापूर्ण कथानक के हर प्रस्ताव में जो कथानक आये हैं, उन्हें, पढ़कर भी यह भ्रम बना ही रह जाता है कि मूलकथा का नायक कौन है? यदि, पाठकवृन्द, थोड़ा सा भी सतर्क भाव से, इस विशाल कथा को पढ़ेंगे, तो वे देखेंगे कि मूलकथा नायक के संकेत पूरे ग्रन्थ में यत्र-तत्र मिलते जाते हैं। कथा में बीच-बीच में कुछ शब्द/वाक्य, इन संकेतों को स्पष्ट करते हैं। जैसे—'सराग-संयतानां भवत्येवायं जीवो हास्यस्थानं' (पृष्ठ ३३ प्रथम पंक्ति), 'तदेतदात्मीयजीवस्यात्यन्तविपरीत-चारितामनुभवताऽभिहितं मया—योऽयं मदीयजीवो-ऽवधारित जात्यन्धभावोऽस्य' (पृष्ठ वही, पांचवी पंक्ति) 'मदीय जीवरोरोऽयं' (पृष्ठ-४३ दूसरी पंक्ति), 'परमे-श्वरावलोकनां मज्जीवे भवन्ती' (पृष्ठ-५३, अन्तिम पंक्ति), 'ये च मम सदुपदेशदायिनो भगवन्तः' (पृष्ठ-५४, तीसरी पंक्ति), 'ततो यो जीवो मादृशः' (पृष्ठ-

७४ तेरहवीं पंक्ति) इत्यादि पृष्ठों पर 'अस्मत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह 'अस्मत्' शब्द का प्रयोग, अनुसुन्दर चक्रवर्ती के द्वारा किया गया है। जिससे यह निश्चय होता है कि इस महाकथा का मुख्य नायक, वही है। जिन स्थलों पर 'एतत्' 'इदं' या 'जीव' शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहाँ पर, उसका अर्थ सामान्य-जीवविषयक ही ग्रहण किया जाना चाहिए। जैसा कि 'एवमेष जीवो राजपुत्राद्यवस्थायां वर्तमानो बहुशो निष्प्रयोजनविकल्पं परम्पर-याऽऽत्मानमाकुलयति' (पृष्ठ-३७ तृतीय पंक्ति), 'यदा खल्वेष जीवो नरपतिमुत्ताद्यवस्थायामतिविशाल चित्ततया' (पृष्ठ वही पञ्चम पंक्ति), तथा 'ततोऽयमेव जीवोऽनवाप्तकर्तव्यनिर्णयः' 'यदायं जीवो विदित-प्रथम सुखास्वादो भवति' (पृष्ठ-६७, पंक्ति क्रमशः प्रथम एवं सातवीं) आदि प्रसंगों में हुए शब्द प्रयोगों से स्पष्ट है।

इस महाकथा में वर्णित कथा-तथ्य, वस्तुतः जैन-धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित तत्त्व-विवेचना से ओत-प्रोत है। जीवधारियों का जन्म, उनके संस्कार और आचरण, जीवन, पद्धति, सोच-विचार की भावदशाएँ, साधना, और ध्यान आदि मोक्ष-पर्यन्त तक का समग्र चिन्तन-मनन, जैन धार्मिक/दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित है। कर्म, कर्म-फल, कर्मफल-भोग और कर्मपरम्परा से मुक्ति, इन समस्त प्रक्रियायों/दशाओं में जीव सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, जैनधर्म की यह मौलिक मान्यता है। जिस तरह, कोई एक अस्त्र, व्यक्ति की जीवन-रक्षा में निमित्त बनता है, उसी तरह, उसके जीवन-विच्छेद का भी कारण बन सकता है। अस्त्र के उपयोग की भूमिका, अस्त्रधारी के विवेक पर निर्भर होती है। ठीक इसी तरह जीवात्मा, अपने विवेक का प्रयोग, भवप्रपञ्च के विस्तार के लिये करता है, या भव-प्रपञ्च को नष्ट करने में यह उसके विवेक पर निर्भर होता है। जैनधर्म/दर्शन के सारे के सारे सिद्धान्त 'विवेक-प्रयोग' पर ही निर्धारित किये गये हैं। यह, सर्वमान्य, सर्व-अनुभूत तथ्य है कि विवेक के प्रयोग की आवश्यकता तभी जान पड़ती है,

जब, दो स्थितियों/विचारों में से किसी एक को चुनना हो। 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' में इसी आशय से द्विविधा-पूर्ण, भिन्न-भिन्न कथानकों को साथ-साथ समायोजित किया है सिद्धर्षि ने। इन कथाओं से, इनके पात्रों, परिस्थितियों और घटना-क्रमों को पुनः-पुनः पढ़ने से, पाठक को अपने विवेक का प्रयोग, आत्मरक्षा/आत्मोन्नति के लिए कब करना है? यह अभ्यास, भली-भाँति हो जायेगा। वस्तुतः जैनधर्म/दर्शन का यही अभिप्रेत है। इसी को सिद्धर्षि ने भी, अपनी कथा का अभिप्रेत निश्चित करना उपयुक्त समझा।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि 'उपमिति भवप्रपञ्च कथा' की सम्पूर्ण कथा 'सांसारिकता' और 'आध्यात्मिकता' के दो समानान्तर धरातलों पर से समुद्भूत हुई है। भौतिक धरातल पर चलने वाली कथा से सिर्फ यही स्पष्ट हो पाता है कि अनु-सुन्दर चक्रवर्ती का जीवात्मा, किन-किन परिस्थितियों में से होता हुआ मोक्ष के द्वार पर, कथा के अन्त में पहुँचता है। इन परिस्थितियों में उसके वैभव, समृद्धि, विलासिता आदि से जुड़े भौतिक सुखों का रसास्वादन भर पाठक कर पाता है। जब कि दीनता-दरिद्रता भरी विषम-परिस्थितियों के चित्रण में उसके दुःख-दर्दों के प्रति, सहृदय पाठक के मन में बसी दयालुता द्रवित भर हो उठती है। ये दोनों ही भावदशाएँ, न तो पाठक के लिये श्रेय-स्कर मानी जा सकती हैं, न ही सिद्धर्षि के कथालेखन का लक्ष्य। बल्कि, सिद्धर्षि का आशय, स्पष्टतः यही जान पड़ता है कि जीवात्मा को जिन कारणों से दीन-पतित अवस्थाओं में जाना पड़ता है, उनका भावात्मक-दृश्य, कथाओं के द्वारा पाठक

के समक्ष, उपस्थित करके, उसे यह ज्ञात करा दिया जाये कि सुख और दुःख का सर्जन, अन्तःकरणों की शुभ-अशुभमयी भावनाओं से होता है। यदि उसके चित्त की वृत्तियाँ उत्कृष्ट-शुभराग से परिप्लुत हों, तो उच्चतम स्थान, स्वर्ग तक ही मिल पायेगा; और उत्कृष्ट-अशुभराग का समावेश चित्तवृत्तियों में होगा, तो अपकृष्टतम-नरक में उसे जाना पड़ सकता है। इस लिये, वह इन दोनों—शुभ-अशुभराग से अपने चित्त/अन्तःकरणों को प्रभावित न बनाये। ताकि उसे स्वर्ग/नरक से सम्बन्धित किसी भी भवप्रपञ्च में उलझना नहीं पड़ेगा। बल्कि, उस के लिये श्रेयस्कर यही होगा कि उक्त दोनों प्रकार की वृत्तियों/परिस्थितियों के प्रति, एक ऐसा माध्य-स्थ/तटस्थ भाव अपने अन्तःकरण में जागृत करे जो उसे सभी प्रकार के भव-विस्तार से बचाये। उसकी यही तटस्थता, उसमें उस विशुद्ध भाव की सर्जिका बन जायेगी, जिसके एक बार उत्पन्न हो जाने पर, हमेशा हमेशा के लिये, किसी भी योनि/भव में जाने का प्रसंग समाप्त हो जाता है। 'उपमिति भवप्रपञ्च कथा' अपने इस उद्देश्य तक पहुँचाने में, जिन-जिन पाठकों को समर्थ बना देती है, वस्तुतः उतने ही सन्दर्भों में सिद्धर्षि का विशाल-महाकथा लिखने का श्रम, सार्थक बनता है तथापि, युगीन सामाजिक परिवेश को देखते हुए, इसमें रह रहा कोई पाठक इस महाकथा के अध्ययन/पठन/श्रवण से, उक्त लक्ष्य की ओर चिन्तन/मनन का भाव बना लेता है, तो भी मेरी दृष्टि से, सिद्धर्षि का ग्रन्थ-रचना का उपक्रम, सार्थक माना जा सकेगा। इत्यलम् ॥

